प्रवचन-१ गाथा-१, २ मंगलवार, ज्येष्ठ शुक्ल ५, दिनांक ०९-०६-१९७०

भगवान के मार्ग में विच्छेद न हो, ऐसे अनेक ग्रन्थ आचार्यों ने बनाये हैं। **उनमें दिगम्बर सम्प्रदाय मूलसंघ नन्दि आम्नाय सरस्वतीगच्छ में श्री कुन्दकुन्द मुनि हुए और उन्होंने पाहुडग्रन्थों की रचना की। उन्हें संस्कृत भाषा में प्राभृत कहते हैं..** लो, प्राभृत। **और वे प्राकृत गाथाबद्ध हैं।** गाथा प्राकृत है। **काल दोष से जीवों की बुद्धि मन्द होती है,..** काल दोष के कारण जीव की बुद्धि थोड़ी है। **जिससे वे अर्थ नहीं समझ सकते;..** इससे उनका अर्थ समझ में नहीं आता। **इसलिए देशभाषामय वचनिका होगी तो सब पढेंगे..** प्रचलित भाषा में होगी तो सब पढ़ेंगे। **और अर्थ समझेंगे तथा श्रद्धान दृढ़ होगा..** सच्चा समझेंगे तो दृढ़ श्रद्धा होगी। **ऐसा प्रयोजन विचार कर वचनिका लिख रहे हैं,..** यह प्रयोजन विचारकर वचनिका लिखी जाती है। **अन्य कोई ख्याति,...** प्रसिद्धि **बड़ाई या लाभ का प्रयोजन नहीं है।** ऐसा वचनिकाकार कहते हैं।

इसलिए हे भव्यजीवों! इसे पढ़कर,... अर्थ समझकर। **अर्थ समझकर, चित्त में धारण करके यथार्थ मत के बाह्यलिंग...** दो बात पर वजन है। वीतरागमार्ग का मुनि का बाह्यलिंग नग्न होता है और तत्त्वार्थ की श्रद्धा दृढ़ करना। **एवं तत्त्वार्थ का श्रद्धान दृढ़ करना। इसमें कुछ बुद्धि की मंदता से...** बुद्धि की मन्दता से। **प्रमाद के वश अन्यथा अर्थ लिख दूँ...** अन्यथा कोई (दूसरा अर्थ) लिखा जाये **तो अधिक बुद्धिमान मूलग्रन्थ को देखकर, शुद्ध करके पढ़ें और मुझे अल्पबुद्धि जानकर क्षमा करें।** लो, यह हिन्दी भाषा बहुत सरल है।

अब दोहा

वंदू श्री अरिहंत कूं मन वच तन इकतान।
मिथ्याभाव निवारि कैं करैं सु दर्शन ज्ञान।।

श्री अरिहन्त भगवान को मन-वचन और तन की एकता से वन्दन करता हूँ। मिथ्याभाव निवारण करके (अर्थात्) अज्ञान आदि मिथ्यात्व का नाश करके **'करैं सु दर्शन ज्ञान'** सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान करे, इसके लिये यह वचनिका मैं लिखता हूँ।

अब ग्रन्थकर्ता श्री कुन्दकुन्दाचार्य ग्रन्थ के आदि में ग्रन्थ की उत्पत्ति...

ग्रन्थ की उत्पत्ति कैसे हुई ? **उसके ज्ञान का कारण जो परम्परा गुरु का प्रवाह, उसे मंगल के हेतु नमस्कार करते हैं–** लो! अब कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं नमस्कार करते हैं।

काऊण णमुक्कारं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स।
दंसणमग्गं वोच्छामि जहाकम्मं समासेण।।१।।

यह पहली गाथा है।

***इसका देशभाषामय अर्थ* – आचार्य कहते हैं कि मैं जिनवर वृषभ ऐसे जो आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव तथा अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान, उन्हें नमस्कार करके..** पहले और अन्तिम दोनों आ गये। ऋषभदेव भगवान और वर्द्धमान तीर्थंकर। **दर्शन अर्थात् मत का जो मार्ग है, उसे यथानुक्रम संक्षेप में कहूँगा।** मत अर्थात् दर्शन। दर्शन उसे कहा जाता है कि मुनि का बाह्य-नग्नपना और अन्तर में वीतरागी दशा, उसे यहाँ मत और दर्शन कहने में आया है। **यथानुक्रम संक्षेप में कहूँगा।**

***भावार्थ* – यहाँ 'जिनवरवृषभ' विशेषण है;...** उसका ऐसा अर्थ है। **उसमें जो जिन शब्द है, उसका अर्थ ऐसा है कि जो कर्मशत्रु को जीते, सो जिन।** कर्मशत्रु को जीते, वह जिन। **वहाँ सम्यग्दृष्टि अव्रती से लेकर कर्म की गुणश्रेणीरूप निर्जरा करनेवाले सभी जिन हैं,...** लो! सम्यग्दृष्टि से लेकर गुणश्रेणीरूप निर्जरा करनेवाले सभी चौथे गुणस्थानवाले को भी जिन कहने में आते हैं। लो! सम्यग्दृष्टि की कोई गिनती नहीं। चारित्र होवे तो... ? कहते हैं न ? यहाँ तो कहते हैं सम्यग्दृष्टि से जिन कहने में आता है।

मुमुक्षु : चारित्र आंशिक....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अलग बात है, परन्तु मिथ्यात्व की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन सर्वोत्कृष्ट वस्तु है। वन्दन करनेयोग्य है। आता है या नहीं ?... छहढाला में आता है या नहीं ? 'लेश न संयम पै शुभनाथ जजे हैं' आता है ? जजे हैं - इन्द्र जिसे पूजते हैं। यहाँ तो चारित्र की... वीतरागी निर्ग्रन्थदशा, वह तो अलौकिक बात है। समझ में आया ? उसके हिसाब से सम्यग्दृष्टि तो हल्के हैं, परन्तु यहाँ तो सम्यग्दर्शन की भूमिका, अनन्त काल से नहीं प्रगट हुआ, ऐसा स्वरूप का भान, अनुभव, वह अलौकिक चीज़ है। जहाँ से मार्ग शुरु होता है, वहाँ से जिन कहने में आये हैं।

सम्यग्दृष्टि अव्रती से लेकर कर्म की गुणश्रेणीरूप निर्जरा करनेवाले सभी जिन हैं, उनमें वर अर्थात् श्रेष्ठ। इसप्रकार.. जिनवर अर्थात् गणधर। जिन में भी वर अर्थात् प्रधान गणधर। **आदि मुनियों को जिनवर कहा जाता है;..** लो, गणधर को जिनवर कहा। **उनमें वृषभ अर्थात् प्रधान ऐसे भगवान तीर्थंकर परमदेव हैं।** लो! तीन बोल लिये। द्रव्यसंग्रह में शुरुआत में आता है न? द्रव्यसंग्रह में आता है। **उनमें प्रथम तो श्री ऋषभदेव हुए और पंचमकाल के प्रारंभ तथा चतुर्थकाल के अन्त में अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्द्धमानस्वामी हुए हैं। वे समस्त तीर्थंकर जिनवर वृषभ हुए हैं,..** लो! दूसरा अर्थ कहा। जिनवर, वह तो सर्व तीर्थंकर को जिनवर वृषभ कहने में आता है। **उन्हें नमस्कार हुआ। वहाँ 'वर्द्धमान' ऐसा विशेषण सभी के लिए जानना;..** ऋषभदेव... आत्मा ये सब वर्द्धमान भगवान सब ऋषभदेव कहलाते हैं।

क्योंकि सभी अन्तरंग एवं बाह्य लक्ष्मी से वर्द्धमान हैं.. सर्व तीर्थंकर अन्तर्लक्ष्य में केवलज्ञानादि, बाह्य लक्ष्मी समवसरण आदि (से) वर्द्धमान हैं। **अथवा जिनवर वृषभ शब्द तो आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव को और वर्द्धमान शब्द से अन्तिम तीर्थंकर को जानना। इसप्रकार आदि और अन्त के तीर्थंकरों को नमस्कार करने से मध्य के तीर्थंकरों को भी सामर्थ्य से नमस्कार जानना।** मध्य में सब बाईस तीर्थंकरों को भी नमस्कार हो गया। **तीर्थंकर सर्वज्ञ वीतराग को तो परमगुरु कहते हैं और उनकी परिपाटी में चले आ रहे गौतमादि मुनियों को जिनवर विशेषण दिया, उन्हें अपरगुरु कहते हैं–** पर और अपर गुरु आता है कहीं? ऐई! पर-अपर गुरु आता है या नहीं कहीं? समयसार की पाँचवीं गाथा। परन्तु याद नहीं रहता न।

इस प्रकार परापर गुरुओं का प्रवाह जानना। पर सर्वज्ञ से लेकर अपर जो गौतम आदि मुनि अपने गणधर गुरु हो गये। **गुरुओं का प्रवाह..** अनादि मार्ग चला आता है, कहते हैं। **वे शास्त्र की उत्पत्ति..** उनसे शास्त्र की उत्पत्ति होती है। **तथा ज्ञान के कारण हैं।** इन तीन को **ग्रन्थ के आदि में नमस्कार किया।** लो, शास्त्र की उत्पत्ति के कारण हैं और ज्ञान का कारण है। शास्त्र की उत्पत्ति भी मुनियों से हुई है और ज्ञान का भी कारण हैं। इस कारण उन्हें नमस्कार किया जाता है।

गाथा-२

अब, धर्म का मूल दर्शन है, इसलिए जो दर्शन से रहित हो, उसकी वंदना नहीं करना चाहिए – ऐसा कहते हैं –

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो।।२।।

दर्शनमूलो धर्मः उपदिष्टः जिनवरैः शिष्याणाम्।
तं श्रुत्वा स्वकर्णे दर्शनहीनो न वन्दितव्यः।।२।।

दर्शन धर्म का मूल कहते सभी जिनवर शिष्य को।
स्व-श्रोत्र से यह सुन नहीं है वंद्य दर्शन-हीन जो।।२।।

अर्थ – जिनवर जो सर्वज्ञदेव हैं, उन्होंने शिष्य जो गणधर आदिक को धर्म का उपदेश दिया है; कैसा उपदेश दिया है ? कि दर्शन जिसका मूल है। मूल कहाँ होता है कि जैसे मन्दिर की नींव और वृक्ष की जड़ होती है, उसीप्रकार धर्म का मूल दर्शन है। इसलिए आचार्य उपदेश देते हैं कि हे सकर्ण अर्थात् सत्पुरुषो ! सर्वज्ञ के कहे हुए उस दर्शनमूलरूप धर्म को अपने कानों से सुनकर जो दर्शन से रहित हैं, वे वंदन योग्य नहीं हैं; इसलिए दर्शनहीन की वंदना मत करो। जिसके दर्शन नहीं है, उसके धर्म भी नहीं है, क्योंकि मूलरहित वृक्ष के स्कन्ध, शाखा, पुष्प फलादिक कहाँ से होंगे? इसलिए यह उपदेश है कि जिसके धर्म नहीं है, उससे धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती, फिर धर्म के निमित्त उसकी वंदना किसलिए करें ? – ऐसा जानना।

अब, यहाँ धर्म का तथा दर्शन का स्वरूप जानना चाहिए। वह स्वरूप तो संक्षेप में ग्रन्थकार ही आगे कहेंगे, तथापि कुछ अन्य ग्रन्थों के अनुसार यहाँ भी दे रहे हैं – 'धर्म' शब्द का अर्थ यह है कि जो आत्मा को संसार से उबारकर सुखस्थान में स्थापित करे सो धर्म है और दर्शन अर्थात् देखना। इसप्रकार धर्म की मूर्ति दिखायी दे, वह दर्शन है तथा प्रसिद्धि में जिसमें धर्म का ग्रहण हो ऐसे मत को 'दर्शन' कहा है। लोक में धर्म की तथा दर्शन की मान्यता सामान्यरूप से तो सबके हैं, परन्तु सर्वज्ञ के बिना यथार्थ स्वरूप का जानना नहीं हो सकता; परन्तु छद्मस्थ प्राणी अपनी बुद्धि से अनेक स्वरूपों

की कल्पना करके अन्यथा स्वरूप स्थापित करके उनकी प्रवृत्ति करते हैं और जिनमत सर्वज्ञ की परम्परा से प्रवर्तमान है, इसलिए इसमें यथार्थ स्वरूप का प्ररूपण है।

वहाँ धर्म को निश्चय और व्यवहार – ऐसे दो प्रकार से साधा है। उसकी प्ररूपणा चार प्रकार से है – प्रथम वस्तुस्वभाव, दूसरे उत्तम क्षमादिक दस प्रकार, तीसरे सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप और चौथे जीवों की रक्षारूप ऐसे चार प्रकार हैं। वहाँ निश्चय से सिद्ध किया जाय, तब तो सबमें एक ही प्रकार है, इसलिए वस्तुस्वभाव का तात्पर्य तो जीव नामक वस्तु की परमार्थरूप दर्शन–ज्ञान–परिणाममयी चेतना है और वह चेतना सर्व विकारों से रहित शुद्ध–स्वभावरूप परिणमित हो, वही जीव का धर्म है तथा उत्तम क्षमादिक दश प्रकार कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा क्रोधादि कषायरूप न होकर अपने स्वभाव में स्थिर हो वही धर्म है, यह भी शुद्ध चेतनारूप ही हुआ।

दर्शन–ज्ञान–चारित्र कहने का तात्पर्य यह है कि तीनों एक ज्ञानचेतना के ही परिणाम हैं, वही ज्ञानस्वभावरूप धर्म है और जीवों की रक्षा का तात्पर्य यह है कि जीव क्रोधादि कषायों के वश होकर अपनी या पर की पर्याय के विनाशरूप मरण तथा दुःख संक्लेश परिणाम न करे – ऐसा अपना स्वभाव ही धर्म है। इसप्रकार शुद्ध द्रव्यार्थिकरूप निश्चयनय से साधा हुआ धर्म एक ही प्रकार है।

व्यवहारनय पर्यायाश्रित है इसलिए भेदरूप है, व्यवहारनय से विचार करें तो जीव के पर्यायरूप परिणाम अनेकप्रकार हैं इसलिए धर्म का भी अनेकप्रकार से वर्णन किया है। वहाँ (१) प्रयोजनवश एकदेश का सर्वदेश से कथन किया जाये सो व्यवहार है, (२) अन्य वस्तु में अन्य का आरोपण अन्य के निमित्त से और प्रयोजनवश किया जाये वह भी व्यवहार है, वहाँ वस्तुस्वभाव कहने का तात्पर्य तो निर्विकार चेतना के शुद्धपरिणाम के साधकरूप, (३) मंदकषायरूप शुभ परिणाम है तथा जो बाह्यक्रियाएँ हैं, उन सभी को व्यवहारधर्म कहा जाता है। उसीप्रकार रत्नत्रय का तात्पर्य स्वरूप के भेद दर्शन–ज्ञान–चारित्र तथा उनके कारण बाह्य क्रियादिक हैं, उन सभी को व्यवहार धर्म कहा जाता है। उसीप्रकार (४) जीवों की दया कहने का तात्पर्य यह है कि क्रोधादि मंदकषाय होने से अपने या पर के मरण, दुःख, क्लेश आदि न करना; [१]उसके साधक समस्त बाह्यक्रियादिक को धर्म कहा जाता है। इसप्रकार जिनमत में निश्चय–व्यवहारनय से साधा हुआ धर्म कहा है।

---

१. साधकरूप–सहचर हेतुरूप निमित्तमात्र; अंतरंग कार्य हो तो बाह्य में इस प्रकार को निमित्त कारण कहा जाता है।

वहाँ एकस्वरूप अनेकस्वरूप कहने में स्याद्वाद से विरोध नहीं आता, कथञ्चित् विवक्षा से सर्व प्रमाणसिद्ध है। ऐसे धर्म का मूल दर्शन कहा है, इसलिए ऐसे धर्म की श्रद्धा, प्रतीति, रुचिसहित आचरण करना ही दर्शन है, यह धर्म की मूर्ति है, इसी को मत(दर्शन) कहते हैं और यही धर्म का मूल है तथा ऐसे धर्म की प्रथम श्रद्धा, प्रतीति, रुचि न हो तो धर्म का आचरण भी नहीं होता। जैसे वृक्ष के मूल बिना स्कंधादिक नहीं होते। इसप्रकार दर्शन को धर्म का मूल कहना युक्त है। ऐसे दर्शन का सिद्धान्तों में जैसा वर्णन है, तदनुसार कुछ लिखते हैं।

वहाँ अंतरंग सम्यग्दर्शन तो जीव का भाव है, वह निश्चय द्वारा उपाधिरहित शुद्ध जीव का साक्षात् अनुभव होना ऐसा एक प्रकार है। वह ऐसा अनुभव अनादिकाल से मिथ्यादर्शन नामक कर्म के उदय से अन्यथा हो रहा है। सादि मिथ्यादृष्टि के उस मिथ्यात्व की तीन प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं – मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति तथा उनकी सहकारिणी अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ के भेद से चार कषाय नामक प्रकृतियाँ हैं। इसप्रकार यह सात प्रकृतियाँ ही सम्यग्दर्शन का घात करनेवाली हैं; इसलिए इन सातों का उपशम होने से पहले तो इस जीव के उपशमसम्यक्त्व होता है। इन प्रकृतियों का उपशम होने का बाह्य कारण सामान्यत: द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव हैं, उनमें द्रव्य में तो साक्षात् तीर्थंकर के देखनादि (दर्शनादि) प्रधान हैं, क्षेत्र में समवसरणादिक प्रधान हैं, काल में अर्द्धपुद्गलपरावर्तन संसार भ्रमण शेष रहे वह तथा भाव में अध:प्रवृत्त करण आदिक हैं।

(सम्यक्त्व के बाह्य कारण) विशेषरूप से तो अनेक हैं। उनमें से कुछ के तो अरिहंत बिम्ब का देखना, कुछ के जिनेन्द्र के कल्याणक आदि की महिमा देखना, कुछ के जातिस्मरण, कुछ के वेदना का अनुभव, कुछ के धर्म श्रवण तथा कुछ के देवों की ऋद्धि का देखना इत्यादि बाह्य कारणों द्वारा मिथ्यात्वकर्म का उपशम होने से उपशमसम्यक्त्व होता है। तथा इन सात प्रकृतियों में छह का तो उपशम या क्षय हो और एक सम्यक्त्व प्रकृति का उदय हो, तब क्षयोपशम सम्य–क्त्व होता है। इस प्रकृति के उदय से किंचित् अतिचार – मल लगता है तथा इन सात प्रकृतियों का सत्ता में से नाश हो, तब क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

इसप्रकार उपशमादि होने पर जीव के परिणामभेद से तीन प्रकार होते हैं; वे परिणाम अति सूक्ष्म हैं, केवलज्ञानगम्य हैं, इसलिए इन प्रकृतियों के द्रव्य पुद्गलपरमाणुओं

के स्कंध हैं, वे अतिसूक्ष्म हैं और उनमें फल देने की शक्तिरूप अनुभाग है, वह अतिसूक्ष्म है, वह छद्मस्थ के ज्ञानगम्य नहीं है। तथा उनका उपशमादिक होने से जीव के परिणाम भी सम्यक्त्वरूप होते हैं, वे भी अतिसूक्ष्म हैं, वे भी केवलज्ञानगम्य हैं। तथापि जीव के कुछ परिणाम छद्मस्थ के ज्ञान में आने योग्य होते हैं, वे उसे पहिचानने के बाह्य-चिह्न हैं, उनकी परीक्षा करके निश्चय करने का व्यवहार है – ऐसा न हो तो छद्मस्थ व्यवहारी जीव के सम्यक्त्व का निश्चय नहीं होगा और तब आस्तिक्य का अभाव सिद्ध होगा, व्यवहार का लोप होगा – यह महान दोष आयेगा। इसलिए बाह्य चिह्नों को आगम, अनुमान तथा स्वानुभव से परीक्षा करके निश्चय करना चाहिए।

वे चिह्न कौन से हैं सो लिखते हैं – मुख्य चिह्न तो उपाधिरहित शुद्ध ज्ञान चेतनास्वरूप आत्मा की अनुभूति है। यद्यपि यह अनुभूति ज्ञान का विशेष है, तथापि वह सम्यक्त्व होने पर होती है, इसलिए उसे बाह्य चिह्न कहते हैं। ज्ञान तो अपना अपने को स्वसंवेदनरूप है; उसका रागादि विकाररहित शुद्धज्ञानमात्र का अपने को आस्वाद होता है कि – ''जो यह शुद्ध ज्ञान है सो मैं हूँ और ज्ञान में जो रागादि विकार हैं, वे कर्म के निमित्त से उत्पन्न होते हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं है'' – इसप्रकार भेदज्ञान से ज्ञानमात्र के आस्वादन को ज्ञान की अनूभूति कहते हैं, वही आत्मा की अनुभूति है तथा वही शुद्धनय का विषय है। ऐसी अनुभूति से शुद्धनय के द्वारा ऐसा भी श्रद्धान होता है कि जो सर्व कर्मजनित रागादिकभाव से रहित अनंतचतुष्टय मेरा स्वरूप है, अन्य सब भाव संयोगजनित हैं – ऐसी आत्मा की अनुभूति सो सम्यक्त्व का मुख्य चिह्न है। यह मिथ्यात्व अनन्तानुबंधी के अभाव से सम्यक्त्व होता है, उसका चिह्न है; उस चिह्न को ही सम्यक्त्व कहना, सो व्यवहार है।

उसकी परीक्षा सर्वज्ञ के आगम, अनुमान तथा स्वानुभव प्रत्यक्ष प्रमाण इन प्रमाणों से की जाती है। इसी को निश्चय तत्त्वार्थश्रद्धान भी कहते हैं। वहाँ अपनी परीक्षा तो अपने स्वसंवेदन की प्रधानता से होती है और पर की परीक्षा तो पर के अंतरंग तथा पर के वचन व काय की क्रिया से होती है, यह व्यवहार है, परमार्थ सर्वज्ञ जानते हैं। व्यवहारी जीव को सर्वज्ञ ने भी व्यवहार के ही शरण का उपदेश दिया है।

(नोंध – अनुभूति ज्ञान गुण की पर्याय है, वह श्रद्धा गुण से भिन्न है; इसलिए ज्ञान के द्वारा श्रद्धान का निर्णय करना व्यवहार है, उसका नाम व्यवहारी जीवों को व्यवहार का ही शरण अर्थात् आलम्बन समझना)

अनेक लोग कहते हैं कि – सम्यक्त्व तो केवलीगम्य है, इसलिए अपने को सम्यक्त्व होने का निश्चय नहीं होता, इसलिए अपने को सम्यग्दृष्टि नहीं मान सकते ?

परन्तु इसप्रकार सर्वथा एकान्त से कहना तो मिथ्यादृष्टि है; सर्वथा ऐसा कहने से व्यवहार का लोप होगा, सर्व मुनि-श्रावकों की प्रवृत्ति मिथ्यात्वरूप सिद्ध होगी और सब अपने को मिथ्यादृष्टि मानेंगे तो व्यवहार कहाँ रहेगा ? इसलिए परीक्षा होने के पश्चात् ऐसा श्रद्धान नहीं रखना चाहिए कि मैं मिथ्यादृष्टि ही हूँ। मिथ्यादृष्टि तो अन्यमती को कहते हैं और उसी के समान स्वयं भी होगा, इसलिए सर्वथा एकान्तपक्ष ग्रहण नहीं करना चाहिए तथा तत्त्वार्थश्रद्धान तो बाह्य चिह्न है।

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष – ऐसे सात तत्त्वार्थ हैं; उनमें पुण्य और पाप को जोड़ देने से नव पदार्थ होते हैं। उनकी श्रद्धा अर्थात् सन्मुखता, रुचि अर्थात् तद्रूप भाव करना तथा प्रतीति अर्थात् जैसे सर्वज्ञ ने कहे हैं, तदनुसार ही अंगीकार करना और उनके आचरणरूप क्रिया – इसप्रकार श्रद्धानादिक होना सो सम्यक्त्व का बाह्य चिह्न है।

तथा प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य भी सम्यक्त्व के बाह्य चिह्न हैं। वहाँ (१) प्रशम – अनंतानुबंधी क्रोधादिक कषाय के उदय का अभाव सो प्रशम है। उसके बाह्य चिह्न जैसे कि सर्वथा एकान्त तत्त्वार्थ का कथन करनेवाले अन्य मतों का श्रद्धान, बाह्यवेश में सत्यार्थपने का अभिमान करना, पर्यायों में एकान्त के कारण आत्मबुद्धि से अभिमान तथा प्रीति करना वह अनंतानुबंधी का कार्य है, वह जिसके न हो तथा किसी ने अपना बुरा किया तो उसका घात करना आदि मिथ्यादृष्टि की भाँति विकारबुद्धि अपने को उत्पन्न न हो तथा वह ऐसा विचार करे कि मैंने अपने परिणामों से जो कर्म बाँधे थे, वे ही बुरा करनेवाले हैं, अन्य तो निमित्तमात्र हैं – ऐसी बुद्धि अपने को उत्पन्न हो – ऐसे मंदकषाय है तथा अनंतानुबंधी के बिना अन्य चारित्रमोह की प्रकृतियों के उदय से आरम्भादिक क्रिया में हिंसादिक होते हैं, उनको भी भला नहीं जानता; इसलिए उससे प्रशम का अभाव नहीं कहते।

(२) संवेग – धर्म में और धर्म के फल में परम उत्साह हो वह संवेग है तथा साधर्मियों से अनुराग और परमेष्ठियों में प्रीति वह भी संवेग ही है तथा धर्म के फल में अभिलाषा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि अभिलाषा तो उसे कहते हैं, जिसे इन्द्रियविषयों की चाह हो। अपने स्वरूप की प्राप्ति में अनुराग को अभिलाषा नहीं कहते।

(३) निर्वेद – इस संवेग में ही निर्वेद भी हुआ समझना, क्योंकि अपने स्वरूप

रूप धर्म की प्राप्ति में अनुराग हुआ, तब अन्यत्र सभी अभिलाषा का त्याग हुआ, सर्व परद्रव्यों से वैराग्य हुआ, वही निर्वेग है।

(४) अनुकम्पा – सर्व प्राणियों में उपकार की बुद्धि और मैत्रीभाव सो अनुकम्पा है तथा मध्यस्थभाव होने से सम्यग्दृष्टि के शल्य नहीं है, किसी से बैरभाव नहीं होता, सुख–दु:ख, जीवन–मरण अपना पर के द्वारा और पर का अपने द्वारा नहीं मानता है तथा पर में जो अनुकम्पा है सो अपने में ही है, इसलिए पर का बुरा करने का विचार करेगा तो अपने कषायभाव से स्वयं अपना ही बुरा हुआ; पर का बुरा नहीं सोचेगा तब अपने कषायभाव नहीं होंगे, इसलिए अपनी अनुकम्पा ही हुई।

(५) आस्तिक्य – जीवादि पदार्थों में अस्तित्वभाव सो आस्तिक्यभाव है। जीवादि पदार्थों का स्वरूप सर्वज्ञ के आगम से जानकर उनमें ऐसी बुद्धि हो कि जैसे सर्वज्ञ ने कहे वैसे ही यह हैं, अन्यथा नहीं हैं, वह आस्तिक्यभाव है। इसप्रकार यह सम्यक्त्व के बाह्य चिह्न हैं।

सम्यक्त्व के आठ गुण हैं – संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा। यह सब प्रशमादि चार में ही आ जाते हैं। संवेग में निर्वेद, वात्सल्य और भक्ति – ये आ गये तथा प्रशम में निंदा, गर्हा आ गई।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग कहे हैं, उन्हें लक्षण भी कहते हैं और गुण भी। उनके नाम हैं – नि:शंकित, नि:कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

वहाँ शंका नाम संशय का भी है और भय का भी। वहाँ धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालाणुद्रव्य, परमाणु इत्यादि तो सूक्ष्मवस्तु हैं तथा द्वीप, समुद्र, मेरुपर्वत आदि दूरवर्ती पदार्थ हैं तथा तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि अन्तरित पदार्थ हैं; वे सर्वज्ञ के आगम में जैसे कहे हैं, वैसे हैं या नहीं हैं ? अथवा सर्वज्ञदेव ने वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक कहा है सो सत्य है या असत्य? – ऐसे सन्देह को शंका कहते हैं। जिसके यह न हो उसे नि:शंकित अंग कहते हैं तथा यह जो शंका होती है सो मिथ्यात्वकर्म के उदय से (उदय में युक्त होने से) होती है; पर में आत्मबुद्धि होना उसका कार्य है। जो पर में आत्मबुद्धि है, सो पर्यायबुद्धि है और पर्यायबुद्धि भय भी उत्पन्न करती है।

शंका भय को भी कहते हैं, उसके सात भेद हैं – इस लोक का भय, परलोक का भय, मृत्यु का भय, अरक्षा का भय, अगुप्ति का भय, वेदना का भय, अकस्मात् का

भय। जिसके यह भय हों, उसे मिथ्यात्व कर्म का उदय समझना चाहिए; सम्यग्दृष्टि होने पर यह नहीं होते।

प्रश्न – भयप्रकृति का उदय तो आठवें गुणस्थान तक है; उसके निमित्त से सम्यग्दृष्टि को भय होता ही है, फिर भय का अभाव कैसा ?

समाधान – कि यद्यपि सम्यग्दृष्टि के चारित्रमोह के भेदरूप भयप्रकृति के उदय से भय होता है, तथापि उसे निर्भय ही कहते हैं; क्योंकि उसके कर्म के उदय का स्वामित्व नहीं है और परद्रव्य के कारण अपने द्रव्यस्वभाव का नाश नहीं मानता। पर्याय का स्वभाव विनाशीक मानता है, इसलिए भय होने पर भी उसे निर्भय ही कहते हैं। भय होने पर उसका उपचार भागना (पलायन) इत्यादि करता है; वहाँ वर्तमान की पीड़ा सहन न होने से वह इलाज (उपचार) करता है, वह निर्बलता का दोष है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि के संदेह तथा भयरहित होने से नि:शंकित अंग होता है।।१।।

कांक्षा अर्थात् भोगों की इच्छा–अभिलाषा। वहाँ पूर्वकाल में किये भोगों की वांछा तथा उन भोगों की मुख्य क्रिया में वांछा तथा कर्म और कर्म के फल की वांछा तथा मिथ्यादृष्टियों के भोगों की प्राप्ति देखकर उन्हें अपने मन में भला जानना अथवा जो इन्द्रियों को न रुचे ऐसे विषयों में उद्वेग होना – यह भोगाभिलाष के चिह्न हैं। यह भोगाभिलाष मिथ्यात्वकर्म के उदय से होता है और जिसके यह न हो, वह नि:कांक्षित अंगयुक्त सम्यग्दृष्टि होता है। वह सम्यग्दृष्टि यद्यपि शुभक्रिया–व्रतादिक आचरण करता है और उसका फल शुभकर्मबन्ध है, किन्तु उसकी वह वांछा नहीं करता। व्रतादिक को स्वरूप का साधक जानकर उनका आचरण करता है कर्म के फल की वांछा नहीं करता – ऐसा नि:कांक्षित अंग है।।२।।

अपने में अपने गुण की महत्ता की बुद्धि से अपने को श्रेष्ठ मानकर पर में हीनता की बुद्धि हो, उसे विचिकित्सा कहते हैं; वह जिसके न हो सो निर्विचिकित्सा अंगयुक्त सम्यग्दृष्टि होता है। उसके चिह्न ऐसे हैं कि यदि कोई पुरुष पाप के उदय से दु:खी हो, असाता के उदय से ग्लानियुक्त शरीर हो तो उसमें ग्लानिबुद्धि नहीं करता। ऐसी बुद्धि नहीं करता कि मैं सम्पदावान हूँ, सुन्दर शरीरवान हूँ, यह दीन, रंक मेरी बराबरी नहीं कर सकता। उलटा ऐसा विचार करता है कि प्राणियों के कर्मोदय से अनेक विचित्र अवस्थाएँ होती हैं; जब मेरे ऐसे कर्म का उदय आवे, तब मैं भी ऐसा ही हो जाऊँ – ऐसे विचार से निर्विचिकित्सा अंग होता है।।३।।

अतत्त्व में तत्त्वपने का श्रद्धान सो मूढदृष्टि है। ऐसी मूढदृष्टि जिसके न हो सो अमूढदृष्टि है। मिथ्यादृष्टियों द्वारा मिथ्या हेतु एवं मिथ्या दृष्टान्त से साधित पदार्थ हैं, वह सम्यग्दृष्टि को प्रीति उत्पन्न नहीं कराते हैं तथा लौकिक रूढि अनेक प्रकार की हैं, वह नि:सार हैं, नि:सार पुरुषों द्वारा ही उसका आचरण होता है, जो अनिष्ट फल देनेवाली है तथा जो निष्फल है; जिनका बुरा फल है तथा उनका कुछ हेतु नहीं है, कुछ अर्थ नहीं है; जो कुछ लोकरूढि चल पड़ती है, उसे लोग अपना मान लेते हैं और फिर उसे छोड़ना कठिन हो जाता है इत्यादि लोकरूढि है।

अदेव में देवबुद्धि, अधर्म में धर्मबुद्धि, अगुरु में गुरुबुद्धि इत्यादि देवादिक मूढता है, वह कल्याणकारी नहीं है। सदोष देव को देव मानना तथा उनके निमित्त हिंसादि द्वारा अधर्म को धर्म मानना तथा मिथ्या आचारवान्, शल्यवान्, परिग्रहवान् सम्यक्त्वव्रतरहित को गुरु मानना इत्यादि मूढदृष्टि के चिह्न हैं। अब, देव–गुरु–धर्म कैसे होते हैं, उनका स्वरूप जानना चाहिए, सो कहते हैं –

रागादिक दोष और ज्ञानावरणादिक कर्म ही आवरण हैं; यह दोनों जिसके नहीं हैं, वह देव है। उसके केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य – ऐसे अनंतचतुष्टय होते हैं। सामान्यरूप से तो देव एक ही है और विशेषरूप से अरहंत, सिद्ध ऐसे दो भेद हैं तथा इनके नामभेद के भेद से भेद करें तो हजारों नाम हैं तथा गुणभेद किए जायें तो अनन्त गुण हैं। परमौदारिक देह में विद्यमान घातियाकर्मरहित अनन्तचतुष्टयसहित धर्म का उपदेश करनेवाले ऐसे तो अरिहंतदेव हैं तथा पुद्गलमयी देह से रहित लोक के शिखर पर विराजमान सम्यक्त्वादि अष्टगुणमंडित अष्टकर्मरहित ऐसे सिद्ध देव हैं। इनके अनेकों नाम हैं – अरहंत, जिन, सिद्ध, परमात्मा, महादेव, शंकर, विष्णु, ब्रह्मा, हरि, बुद्ध, सर्वज्ञ, वीतराग परमात्मा इत्यादि अर्थ सहित अनेक नाम हैं – ऐसा देव का स्वरूप जानना।

गुरु का भी अर्थ से विचार करें तो अरिहंत देव ही हैं, क्योंकि मोक्षमार्ग का उपदेश करनेवाले अरिहंत ही हैं, वे ही साक्षात् मोक्षमार्ग का प्रवर्तन कराते हैं तथा अरिहंत के पश्चात् छद्मस्थ ज्ञान के धारक उन्हीं का निर्ग्रन्थ दिगम्बर रूप धारण करनेवाले मुनि हैं सो गुरु हैं; क्योंकि अरिहंत की सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की एकदेश शुद्धता उनके पायी जाती है और वे ही संवर–निर्जरा–मोक्ष का कारण हैं, इसलिए अरिहंत की भाँति एकदेशरूप से निर्दोष हैं, वे मुनि भी गुरु हैं, मोक्षमार्ग का उपदेश करनेवाले हैं।

ऐसा मुनिपना सामान्यरूप से एक प्रकार का है और विशेषरूप से वही तीन प्रकार

का है – आचार्य, उपाध्याय, साधु। इसप्रकार यह पदवी की विशेषता होने पर भी उनके मुनिपने की क्रिया समान ही है; बाह्य लिंग भी समान है, पञ्च महाव्रत, पञ्च समिति, तीन गुप्ति – ऐसे तेरह प्रकार का चारित्र भी समान ही है, तप भी शक्ति अनुसार समान ही है, साम्यभाव भी समान है, मूलगुण उत्तरगुण भी समान है, परिषह उपसर्गों का सहना भी समान है, आहारादि की विधि भी समान है, चर्या, स्थान, आसनादि भी समान हैं, मोक्षमार्ग की साधना, सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र भी समान हैं। ध्याता, ध्यान, ध्येयपना भी समान है, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयपना भी समान है, चार आराधना की आराधना, क्रोधादिक कषायों का जीतना इत्यादि मुनियों की प्रवृत्ति है, वह सब समान है।

विशेष यह है कि जो आचार्य हैं, वे पञ्चाचार अन्य को ग्रहण कराते हैं तथा अन्य को दोष लगे तो उसके प्रायश्चित्त की विधि बतलाते हैं, धर्मोपदेश, दीक्षा एवं शिक्षा देते हैं – ऐसे आचार्य गुरुवन्दना करने योग्य हैं।

जो उपाध्याय हैं वे वादित्व, वाग्मित्व, कवित्व, गमकत्व – इन चार विद्याओं में प्रवीण होते हैं; उसमें शास्त्र का अभ्यास प्रधान कारण है। जो स्वयं शास्त्र पढते हैं और अन्य को पढाते हैं, ऐसे उपाध्याय गुरु वन्दनयोग्य हैं; उनके अन्य मुनिव्रत, मूलगुण, उत्तरगुण की क्रिया आचार्य के समान ही होती है तथा साधु रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग की साधना करते हैं सो साधु हैं; उनके दीक्षा, शिक्षा और उपदेशादि देने की प्रधानता नहीं है, वे तो अपने स्वरूप की साधना में ही तत्पर होते हैं; जिनागम में जैसी निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि की प्रवृत्ति कही है, वैसी सभी प्रवृत्ति उनके होती है – ऐसे साधु वन्दना के योग्य हैं। अन्यलिंगी–वेषी व्रतादिक से रहित परिग्रहवान, विषयों में आसक्त गुरु नाम धारण करते हैं, वे वन्दनयोग्य नहीं हैं।

इस पंचमकाल में जिनतमत में भी भेषी हुए हैं। वे श्वेताम्बर, यापनीयसंघ, गोपुच्छपिच्छसंघ, नि:पिच्छसंघ, द्राविड़संघ आदि अनेक हुए हैं; यह सब वन्दनयोग्य नहीं हैं। मूलसंघ, नग्नदिगम्बर, अट्ठाईस मूलगुणों के धारक, दया के और शौच के उपकरण मयूरपिच्छक, कमण्डल धारण करनेवाले, यथोक्त विधि से आहार करनेवाले गुरु वन्दनयोग्य हैं, क्योंकि जब तीर्थंकर देव दीक्षा लेते हैं, तब ऐसा ही रूप धारण करते हैं, अन्य भेष धारण नहीं करते; इसी को जिनदर्शन कहते हैं।

धर्म उसे कहते हैं जो जीव को संसार के दु:खरूप नीच पद से मोक्ष के सुखरूप उच्च पद में स्थापित करे – ऐसा धर्म मुनि–श्रावक के भेद से, दर्शन–ज्ञान–चारित्रात्मक

एकदेश सर्वदेशरूप निश्चय-व्यवहार द्वारा दो प्रकार कहा है; उसका मूल सम्यग्दर्शन है; उसके बिना धर्म की उत्पत्ति नहीं होती। इसप्रकार देव-गुरु-धर्म में तथा लोक में यथार्थ दृष्टि हो और मूढता न हो सो अमूढदृष्टि अंग है।।४।।

अपने आत्मा की शक्ति को बढाना सो उपबृंहण अंग है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को अपने पुरुषार्थ द्वारा बढाना ही उपबृंहण है। उसे उपगूहन भी कहते हैं – ऐसा अर्थ जानना चाहिए कि जिनमार्ग स्वयंसिद्ध है; उसमें बालक के तथा असमर्थ जन के आश्रय से जो न्यूनता हो, उसे अपनी बुद्धि से गुप्त कर दूर ही करे, वह उपगूहन अंग है।।५।।

जो धर्म से च्युत होता हो उसे दृढ करना सो स्थितिकरण अंग है। स्वयं कर्मोदय के वश होकर कदाचित् श्रद्धान से तथा क्रिया-आचार से च्युत होता हो तो अपने को पुरुषार्थपूर्वक पुनः श्रद्धान में दृढ करे; उसीप्रकार अन्य कोई धर्मात्मा धर्म से च्युत होता हो तो उसे उपदेशादिक द्वारा धर्म में स्थापित करे, वह स्थितिकरण अंग है।।६।।

अरिहंत, सिद्ध, उनके बिम्ब, चैत्यालय चतुर्विध संघ और शास्त्र में दासत्व हो – जैसे स्वामी का भृत्य दास होता है तदनुसार वह वात्सल्य अंग है। धर्म के स्थान पर उपसर्गादि आयें उन्हें अपनी शक्ति अनुसार दूर करे, अपनी शक्ति को न छिपाये – यह सब धर्म में अति प्रीति हो तब होता है।।७।।

धर्म का उद्योत करना सो प्रभावना अंग है। रत्नत्रय द्वारा अपने आत्मा का उद्योत करना तथा दान, तप, पूजा-विधान द्वारा एवं विद्या, अतिशय-चमत्कारादि द्वारा जिनधर्म का उद्योत करना वह प्रभावना अंग है।।८।।

इसप्रकार यह सम्यक्त्व के आठ अंग हैं; जिसके यह प्रगट हों उसके सम्यक्त्व है – ऐसा जानना चाहिए।

प्रश्न – यदि यह सम्यक्त्व के चिह्न मिथ्यादृष्टि के भी दिखाई दें तो सम्यक्-मिथ्या का विभाग कैसे होगा ?

समाधान – जैसे चिह्न सम्यक्त्वी के होते हैं, वैसे मिथ्यात्वी के तो कदापि नहीं होते, तथापि अपरीक्षक को समान दिखाई दें तो परीक्षा करके भेद जाना जा सकता है। परीक्षा में अपना स्वानुभव प्रधान है। सर्वज्ञ के आगम में जैसा आत्मा का अनुभव होना कहा है, वैसा स्वयं को हो तो उसके होने से अपनी वचन-काय की प्रवृत्ति भी तदनुसार होती है, उस प्रवृत्ति के अनुसार अन्य की भी वचन-काय की प्रवृत्ति पहचानी जाती है

– इसप्रकार परीक्षा करने से विभाग होते हैं तथा यह व्यवहार मार्ग है, इसलिए व्यवहारी छद्मस्थ जीवों के अपने ज्ञान के अनुसार प्रवृत्ति है; यथार्थ सर्वज्ञदेव जानते हैं।

व्यवहारी को सर्वज्ञदेव ने व्यवहार का ही आश्रय बतलाया है*। यह अन्तरंग सम्यक्त्वभावरूप सम्यक्त्व है, वही सम्यग्दर्शन है, बाह्यदर्शन, व्रत, समिति, गुप्तिरूप चारित्र और तपसहित अट्ठाईस मूलगुण सहित नग्न दिगम्बर मुद्रा उसकी मूर्ति है, उसे जिनदर्शन कहते हैं। इसप्रकार धर्म का मूल सम्यग्दर्शन जानकर जो सम्यग्दर्शनरहित हैं, उनके वंदन-पूजन का निषेध किया है – ऐसा यह उपदेश भव्यजीवों को अंगीकार करनेयोग्य है।।२।।

गाथा-२ पर प्रवचन

अब, धर्म का मूल दर्शन है, इसलिए जो दर्शन से रहित हो, उसकी वंदना नहीं करना चाहिए.. अब यहाँ से मार्ग शुरु होता है। इसलिए पहले नमस्कार, वन्दन किया।

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो।।२।।

अर्थ – **जिनवर जो सर्वज्ञदेव हैं, उन्होंने शिष्य जो गणधर आदिक को धर्म का उपदेश दिया है;...** उन्होंने—भगवानों ने और गणधरों ने—धर्म का उपदेश किया। **कैसा उपदेश दिया है? कि दर्शन जिसका मूल है।** ऐसा धर्म उपदेशित किया है। लो, जिसमें सम्यग्दर्शन मूल है, ऐसा धर्म भगवान ने कहा है। यह दर्शनपाहुड़ है न? **कि दर्शन जिसका मूल है।** ऐसा धर्म उपदेशित किया है। **मूल कहाँ होता है?–कि जैसे मन्दिर की नींव..** नींव। मकान, मकान की नींव **और वृक्ष की जड़..** वृक्ष का मूल। **उसीप्रकार धर्म का मूल दर्शन है।** मन्दिर की नींव और वृक्ष का जैसे मूल (जड़ हो), वैसे धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शन के बिना धर्म तीन काल में नहीं होता।

मुमुक्षु : चारित्र हो, उसे दर्शन हो....

---

* स्वानुभूति ज्ञान गुण की पर्याय है, ज्ञान के द्वारा सम्यक्त्व का निर्णय करना उसका नाम व्यवहारी को व्यवहार का आश्रय समझना, किन्तु भेदरूप व्यवहार के आश्रय से वीतराग अंशरूप धर्म होगा ऐसा अर्थ कहीं पर नहीं समझना।

पूज्य गुरुदेवश्री : चारित्र हो, उसे दर्शन होता ही है परन्तु चारित्र चाहिए न! चारित्र अर्थात् क्या? व्रतादि की क्रिया, वह चारित्र है? ऐई! देवीचन्दजी! बाहर पंच महाव्रत आदि के विकल्प हैं, वे कहीं चारित्र नहीं हैं; वे तो अचारित्र हैं। वह तो चारित्र का दोष है। सब सबेरे आया था। राग व्यवहार है, बन्ध का कारण है, इस आत्मा में वह परिणति नहीं है। जीव की परिणति नहीं है। आत्मा की वह पर्याय नहीं है। आहा..हा..! अरे! किसने सुना है? दर्शन वस्तु पूरी जैन का मूल, धर्म का मूल दर्शन है। धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है।

इसलिए आचार्य उपदेश देते हैं कि.. इसलिए आचार्य महाराज उपदेश करते हैं। **हे सकर्ण..** पण्डित सत्पुरुषों! ऐसा। कान है और सुना है, ऐसा कहते हैं। जिसने तत्त्व की बात सुनी है, श्रद्धा की है, ऐसे **हे सकर्ण अर्थात् पण्डित सत्पुरुषो ! सर्वज्ञ के कहे हुए उस दर्शनमूलरूप धर्म को अपने कानों से सुनकर जो दर्शन से रहित हैं,.. सर्वज्ञ के कहे..** सर्वज्ञ परमात्मा, उन्होंने जो सम्यग्दर्शन धर्म कहा। राग और विकल्प तथा मन से पार, ऐसा चैतन्य ध्रुवस्वरूप। समझ में आया? उस चैतन्य भगवान ध्रुवस्वरूप की अन्तर प्रतीति और अनुभव में श्रद्धा। ऐसा सर्वज्ञ ने उपदेश किया है।

दर्शनमूलरूप धर्म को अपने कानों से सुनकर... सुनकर। **जो दर्शन से रहित हैं,..** जो सम्यग्दर्शन से रहित हैं। जिनकी श्रद्धा में राग से धर्म हो, पुण्य से धर्म हो, सर्वज्ञ के सिवाय कहे हुए तत्त्व भी सच्चे हैं, दूसरों के तीर्थक्षेत्र में भी धर्म होता है, दूसरे धर्म में भी कुछ धर्म है—ऐसी मान्यतावाले जीव हैं, वे सम्यग्दर्शनरहित हैं। समझ में आया? बद्रीनाथ के मन्दिर में से लिखान आया है। इसमें आया है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे बेचारे को खबर नहीं।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, दूसरा पाप किया हो तो इन तीर्थों में नाश होता है, ऐसा लिखा है। कहाँ तीर्थ था? तीर्थ तो आत्मा है। आनन्दमूर्ति वीतरागस्वरूप के अन्तर जाने से, स्नान करने से तीर्थ होता है। वह तीर्थ है। ये बाहर के तीर्थ, वीतरागता के बाहर के तीर्थ वह

व्यवहार है, तो अन्य के तीर्थ तो है ही कहाँ। समझ में आया? सम्मेदशिखर, शत्रुंजय तीर्थ हैं, वे पाप का नाश करनेवाले तीर्थ नहीं। वह तो शुभभाव होता है, इससे जरा अशुभादि न हो, इतनी बात है। वह तीर्थ। तीर्थ तो आत्मा है। पूर्णानन्द का नाथ तरण उपाय के स्वभाव से जड़ा हुआ। समझ में आया? तीर्थ तो वह है। स्नान करनेयोग्य वह है।

अनन्त आनन्द और ज्ञान का स्वभाव, ऐसा जो आत्मा वह सर्वज्ञ ने कहा, वह आत्मा। वापस दूसरे आत्मा कहते हैं, वह आत्मा नहीं। इसलिए कहा न? **सर्वज्ञ के कहे हुए उस दर्शनमूलरूप धर्म को अपने कानों से सुनकर..** सर्वज्ञ भगवान ने कहा वह। सर्वज्ञ भगवान ने कहा हुआ मार्ग तो दिगम्बर दर्शन में ही है। अन्यत्र है नहीं। बात तो आयेगी। ऐसी स्पष्ट बात आयेगी इसमें तो। इसमें तो झटककर सब निकाल दिया है – ऐसा है। दिगम्बर दर्शन अनादि सनातन सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहा, उस मार्ग का स्वरूप परम्परा दिगम्बर धर्म में है। उसके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं अंश भी है नहीं। उसके लिये यह दर्शनपाहुड़ बनाया है। देखो! दर्शन सर्वज्ञ का मूल है। कथन में दर्शन प्रधान बात आयी है। सम्यग्दर्शन तो सच्चे देव-शास्त्र-गुरु जहाँ नहीं, वहाँ सम्यग्दर्शन कहाँ से होगा? समझ में आया? ऐसा है, भाई! दूसरों को खराब लगे, खोटा लगे परन्तु मार्ग तो यह है। बहुतों को ऐसा होता है न, अन्दर से निकाले कि भाई! यह तो हमारा खण्डन करते हैं। ऐसा आया था, श्रीमद् ने खण्डन नहीं किया। वहाँ खण्डन करते हैं, इसलिए हमें सुनना नहीं। अरे भगवान! बापू! मार्ग तो यह है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : होवे ही न! परन्तु ऐसी कौन सी चीज़ है, जो सबको ठीक लगे? यह तो अपने अभी कहा। वचनिका, मोक्षमार्गप्रकाशक। ऐसी कौन सी चीज़ है, जो सबको ठीक लगे। मार्ग तो जो वीतराग ने कहा हो, वह आता है। समझ में आया? जो पक्षकार हो, उसे ठीक नहीं लगता। सत् की श्रद्धा के लिये तो तत्त्वार्थश्रद्धान होवे किस प्रकार? और विरुद्ध श्रद्धा मिटे किस प्रकार? मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है।

दर्शन से रहित हैं, वे वंदन योग्य नहीं हैं;.. यहाँ सिद्धान्त है, लो जिसे सर्वज्ञ परमात्मा ने दिगम्बर धर्म में जो मुनिपना कहा, दर्शन। है न? भावलिंग अन्तर तीन कषाय का अभाव; बाह्य में नग्नदशा और व्यवहार में पंच महाव्रतादि के विकल्प, वह जैनदर्शन

है अथवा दर्शन निश्चित है। अन्दर में ऐसे की श्रद्धा रागरहित ऐसे रहने की श्रद्धा अन्दर में, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। स्वभाव सन्मुख की श्रद्धा, ऐसा। ऐसी श्रद्धा से रहित है, फिर चाहे तो बड़ा महात्मा, आचार्य, उपाध्याय आदि नाम धरावे। **वंदन योग्य नहीं हैं;...** ऐसा है, पहले से यह शुरु किया है। कहो, शान्तिभाई! यह सब सत् का आग्रह नहीं होगा? सत्य तो यह है, भाई! सत्य कोई दो होते हैं? 'एक होय तीन काल में परमार्थ का पन्थ।' सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतराग ने कहा हुआ परम्परा का मार्ग, ऐसा सम्यग्दर्शन नाम कान से सुना हो कि ऐसा सम्यग्दर्शन। ऐसे जीवों को, सम्यग्दर्शनरहित प्राणी हैं, उन्हें वन्दनयोग्य नहीं है। आहा..हा..! कहो, समझ में आया? **ण वंदिव्वो** स्पष्ट है या नहीं? आहा..हा..! **दर्शनहीन की वंदना मत करो।** लो, जिसे सम्यग्दर्शन का भान भी नहीं और देव-गुरु-शास्त्र की विपरीत श्रद्धा है और भले व्रतादि क्रिया बाहर में दिखायी दे, परन्तु वह तो दर्शनरहित है। वह वन्दनयोग्य नहीं है। कहो, समझ में आया? और उसका आदर करे तो मिथ्या श्रद्धावाला है और उसका आदर करे तो मिथ्या श्रद्धा का पाप लगता है। करे, करावे और अनुमोदे, तीनों पाप का फल है।

जिसके दर्शन नहीं है, उसके धर्म भी नहीं है,... जिसे सम्यग्दर्शन नहीं। वस्तु भगवान आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु चैतन्यध्रुव की अन्तर श्रद्धा नहीं; पर्यायबुद्धि है, रागबुद्धि है, संयोगबुद्धि है—ऐसे जीव सम्यग्दर्शनरहित हैं। उनमें धर्म नहीं। **जिसके दर्शन नहीं है, उसके धर्म भी नहीं है,..** मूल बिना '**मूलम नास्ति कुता शाखा**' जिसका मूल नहीं उसे शाखा या फल नहीं होते। समझ में आया? जिसके दर्शन नहीं है, उसके धर्म भी नहीं है। चाहे तो बारह व्रत और महीने-महीने खमण के पारणा, नग्न मुनि (हो) 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो', तो भी वह मिथ्यादृष्टि है, कहते हैं। आहा..हा..! गजब कठिन काम। **मूलरहित वृक्ष के स्कन्ध, शाखा, पुष्प फलादिक कहाँ से होंगे?** लो, जिसका मूल ही नहीं। सम्यग्दर्शन ही नहीं। समझ में आया? पर से धर्म होगा, व्यवहार से, पुण्य से, क्रिया करते-करते धर्म होगा, निमित्त से लाभ होगा—ऐसी मान्यता है, वह तो दर्शनरहित मिथ्यादृष्टि है। चाहे तो मानधाता बड़ा त्यागी हो तो भी वह वन्दन योग्य नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहा..हा..! गजब!

मुमुक्षु : कड़क स्वभाव.....

पूज्य गुरुदेवश्री : कड़क है। ऐसी वस्तु है। कड़क कहो या सरल कहो, मार्ग यह है। कहो सेठी! अब मुनि मानकर आहार-पानी लेने का (करे) उसमें बड़ा कहाँ? श्रद्धा का भान नहीं, सम्यग्दर्शन की खबर नहीं।

मुमुक्षु : वेश देखकर वेश में क्या है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वेश देखकर, वेश में क्या है? धूल।

मुमुक्षु : ऐसा माने।

पूज्य गुरुदेवश्री : मानता है। क्या माने? उसके लक्षण हैं, वह दिखता नहीं कि यह कर्ताबुद्धि है, इसे मैं करूँ तो यह हो, इसे करूँ तो ऐसा हो। सदोष आहार लेते हैं, इत्यादि भाव हैं और मानते हैं कि मुनि हैं तो मिथ्यात्व का भाव है - ऐसा है, भाई! इस दर्शनपाहुड़ में तो।

मुमुक्षु : पहले से खोटा.....

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले से ही खोटा है, उसे खोटा सिद्ध किया है। प्रसिद्ध करके खोटा सिद्ध किया है। ऐसा है, भाई!

जिसके दर्शन नहीं है, उसके धर्म भी नहीं है, क्योंकि मूलरहित वृक्ष के स्कन्ध,... मूल ही नहीं हो वहाँ फिर स्कन्ध फला है, शाखा-डाली निकली है, पुष्प हुए हैं, फल हुए हैं—यह कहाँ से होगा? आहा..हा..! यह व्रत लिये और तप करे, इसलिए उसे सम्यग्दर्शन होगा? कि नहीं। वह व्रत-तप है ही नहीं। सम्यक् मूल न हो, वहाँ व्रत-तप कैसे? आहा..! **इसलिए यह उपदेश है कि जिसके धर्म नहीं है, उससे धर्म की प्राप्ति नहीं...** भाषा देखो! पहले ऐसा कहा कि **जिसके दर्शन नहीं है, उसके धर्म भी नहीं है,...** जिसे दर्शन-समकित नहीं, उसे धर्म भी नहीं... जिसे धर्म नहीं उससे धर्म की प्राप्ति नहीं... उसके पास सुनकर लाभ मिले, ऐसा है नहीं—ऐसा कहते हैं। सुनने जाऊँगा, सुनने जाऊँगा तो मिलेगा, इससे इनकार करते हैं, देखो! जिसकी श्रद्धा में खोट (विपरीतता) ही है।

मुमुक्षु : वह तो भगवान के शास्त्र....

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान के शास्त्र कहाँ हैं? उसे कहाँ भान है? समझ में आया?

यह तो भाई! वीतराग त्रिलोकनाथ परमात्मा के मुनीम होकर बात करें और करे खोटी। दिवाला निकालने की बात करे। उनसे धर्म की प्राप्ति नहीं है। वन्दन योग्य नहीं है। क्योंकि उनसे धर्म की प्राप्ति नहीं है, इसलिए आदर करनेयोग्य नहीं है। आहा..हा..! गजब काम।

फिर धर्म के निमित्त उसकी वंदना किसलिए करें? देखो! ऐसे आत्माओं को धर्म के कारण से आदर कैसे करें? **ऐसा जानना।** ऐसा यहाँ कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं। ऐसा यहाँ जानना। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : इसमें अर्थ किया है। इन्होंने किया है न? यह कहाँ घर का किया है? **दंसणमूलो धम्मो** यह शब्द तो मूल पाठ में है। सम्यग्दर्शन मूल धर्म है। **उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं** जिनवरों ने शिष्य को उपदेश किया है। **तं सोऊण सकण्णे** यह बात सुनकर हे सकर्ण! हे कानवाले-सुननेवाले! ऐसा कहते हैं। **दंसणहीणो ण वंदिव्वो** पाठ है या नहीं? ऐई! देवीचन्दजी! आहा..हा..! दुनिया को तो ऐसा लगे। सब लाखोंपति-करोड़ोंपति मानते हों और ये सब लोग पचास-पचास हजार एकत्रित होते हों। अब वह कहे कि यह वन्दे नहीं, फट-फट हो। उसे धर्म की श्रद्धा नहीं, इसलिए वन्दन नहीं करते। ऐसे महामुनि त्यागी हुए, परन्तु कौन मुनि था? अभी सम्यग्दर्शन का ठिकाना नहीं। समझ में आया? आहा..हा..! देह की क्रिया जड़, उसके कर्ता हो। दया, दान, व्रत के परिणाम से मुझे धर्म हो, यह करते-करते—व्यवहार करते-करते हमारी निश्चय की शुद्धि हो, ऐसा माननेवाले समकित से रहित मिथ्यादृष्टि हैं। उनसे धर्म प्राप्त नहीं होता तो उनका आदर करके क्या करना? ऐसा कहते हैं। यह तो जवाबदारी आयी, सेठी! अभी तक सब गड़बड़ की है। यहाँ जवाबदारी है।

मुमुक्षु : आहार शुद्ध, मन शुद्ध, वचन शुद्ध.....

पूज्य गुरुदेवश्री : भाई! वहाँ मुख्य प्रमुख व्यक्ति हो तो आहार-पानी देना पड़े। तिष्ठ, तिष्ठ... बनाया उनके लिये और (बोले ऐसा कि) आहार शुद्ध, वचन शुद्ध।

मुमुक्षु : आहार शुद्ध, मन शुद्ध, वचन शुद्ध.....

पूज्य गुरुदेवश्री : काय शुद्ध, वचन शुद्ध, यह झूठ बोलता है और उस झूठे को

अनुमोदन करे और झूठे का अनुमोदन ले, ऐसी बात है, सेठी! देखो। आहा..हा..! मार्ग तो ऐसा है, बापू!

अब, यहाँ धर्म का तथा दर्शन का स्वरूप जानना चाहिए। अब स्वयं थोड़ा लिखते हैं। धर्म का और दर्शन का। सम्यग्दर्शन नहीं, यहाँ दर्शन की सामान्य बात है। जैनदर्शन। उसका स्वरूप जानना चाहिए। **वह स्वरूप तो संक्षेप में ग्रन्थकार ही आगे कहेंगे,..** ग्रन्थकार स्वयं उसका स्वरूप कहेंगे। **तथापि कुछ अन्य ग्रन्थों के अनुसार यहाँ भी दे रहे हैं-..** दूसरे ग्रन्थ के अनुसार थोड़ा यहाँ कहते हैं। **'धर्म' शब्द का अर्थ यह है कि जो आत्मा को संसार से उबारकर सुखस्थान में स्थापित करे, सो धर्म है..** लो! धर्म उसे कहते हैं कि आत्मा, संसार अर्थात् दुःख की दशा, उससे उद्धार करके... उदयभाव संसार दुःखदशा है, उससे उद्धार करके-अभाव करके सुखस्थान में स्थापित करता है। आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा में स्थापित करे, उसे धर्म कहते हैं। लो, यह धर्म की व्याख्या।

'धर्म' शब्द का अर्थ यह है कि... इसका अर्थ ऐसा है कि **जो आत्मा को संसार से उबारकर...** यह सिद्ध करते हैं कि आत्मा को संसार है। आत्मा की पर्याय में राग-द्वेष, मिथ्यात्व, वह दुःखरूप दशा है, वह संसार है। आत्मा की वर्तमान दशा में अनादि अज्ञानी को मिथ्यात्व और राग-द्वेषभाव है, यह उसकी संसारदशा है। ऐसे मिथ्यात्व और राग-द्वेष में से उद्धार करके स्वरूप में स्थापित करे, अन्तर अनन्त ज्ञानादि स्वभाव भगवान आत्मा का, उसमें स्थापित करे, उसे धर्म कहते हैं। ध्रुव के लक्ष्य से एक का व्यय करके एक का उत्पाद करे, उसे धर्म कहते हैं। समझ में आया? यह तो गजब व्याख्या है। यह धर्म की व्याख्या हुई।

और दर्शन अर्थात् देखना। दर्शन की व्याख्या करते हैं। दो बात करते थे न? **यहाँ धर्म का तथा दर्शन का स्वरूप जानना चाहिए।** धर्म की व्याख्या यह की। संसार अर्थात्? आत्मा की पर्याय में मिथ्यात्व / विपरीत अभिप्राय और राग-द्वेष (होवे), वह संसार है। उसे मिटाकर और वस्तु आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा में स्थापित करे, ऐसी दशा को धर्म कहने में आता है। कहो, समझ में आया? **और दर्शन अर्थात् देखना।** अब दर्शन की व्याख्या। **और दर्शन अर्थात् देखना।** देखने का नाम दर्शन है। **इसप्रकार धर्म**

की मूर्ति दिखायी दे, वह दर्शन है... वीतराग प्रतिमास्वरूप मुनि, भावलिंगी। बाह्य में नग्नदशा, अन्तर में वीतराग मुद्रा। जिसे विकल्प की वृत्ति उठे, उसका वह कर्ता नहीं – ऐसा वीतरागभाव, ऐसा जो दर्शन। अभ्यन्तर और बाह्य ऐसा जो दर्शन।

इसप्रकार धर्म की मूर्ति दिखायी दे, वह दर्शन है तथा प्रसिद्धि में जिसमें धर्म का ग्रहण हो, ऐसे मत को 'दर्शन' कहा है। बाहर में जैनदर्शन, जैनधर्म—ऐसे प्रसिद्धता में धर्म का ग्रहण हो, ऐसे मत को दर्शन कहते हैं। **लोक में धर्म की तथा दर्शन की मान्यता सामान्यरूप से तो सबके हैं,..** साधारण धर्म-धर्म तो सब करते हैं न? और दर्शन-हमारा मत सच्चा... हमारा मत सच्चा... हमारा मत सच्चा... ऐसा तो सब करते हैं। कोई ऐसा कहता है कि हमारा दर्शन मिथ्या? **लोक में धर्म की तथा दर्शन की मान्यता सामान्यरूप से तो सबके हैं, परन्तु सर्वज्ञ के बिना..** यहाँ से बात है। **यथार्थ स्वरूप का जानना नहीं हो सकता;..** पहली सर्वज्ञ की सिद्धि करते हैं। जिसने तीन काल तीन लोक ज्ञान में जाने नहीं, ऐसे सर्वज्ञ के अतिरिक्त आत्मा और धर्म की बातें करे, वह सब बातें उसकी कल्पित और मिथ्या होती है। जिस मत में सर्वज्ञ होते हैं, उसका इसे निर्णय करना चाहिए। समझ में आया?

सर्वज्ञ के बिना यथार्थ स्वरूप का जानना नहीं हो सकता; परन्तु छद्मस्थ प्राणी अपनी बुद्धि से अनेक स्वरूपों की कल्पना करके.. देखो! यह **अन्यथा स्वरूप स्थापित करके उनकी प्रवृत्ति करते हैं..** जाना नहीं और कहे ऐसा होता है, ऐसा होता है। वे तो अन्यथा प्रवृत्ति करते और कराते हैं। इसलिए वह धर्म नहीं है। देखो! पहले सर्वज्ञ परमात्मा कौन हैं, ऐसा सिद्ध करके, उन्होंने देखा हुआ – कहा हुआ, वह मार्ग सत्य है। समझ में आया?

सर्वज्ञ के बिना यथार्थ स्वरूप का जानना नहीं हो सकता;.. सर्वज्ञ के बिना यथार्थ स्वरूप में जानने में नहीं आ सकता। **परन्तु छद्मस्थ प्राणी अपनी बुद्धि से अनेक स्वरूपों की कल्पना करके अन्यथा स्वरूप स्थापित करके उनकी प्रवृत्ति करते हैं और जिनमत सर्वज्ञ की परम्परा से प्रवर्तमान है,..** वीतराग मार्ग तो सर्वज्ञ की परम्परा से प्रवर्तता है। समझ में आया? **सर्वज्ञ की परम्परा से प्रवर्तमान है,..** परमेश्वर ने कहा, वह गणधर ने जाना, अनुभव किया, उनकी परम्परा से जो अनादि का मार्ग है, वह दिगम्बर

सम्प्रदाय में चला आ रहा है। अन्यत्र वह मार्ग है नहीं। **इसलिए इसमें यथार्थ स्वरूप का प्ररूपण है।** सर्वज्ञ की परम्परा से जो मार्ग आया, उसमें देव का, गुरु का, शास्त्र का, तत्त्व का, धर्म का, मोक्षमार्ग का वास्तविक स्वरूप का कथन उसमें है, अन्यत्र है नहीं। कहो, समझ में आया?

वहाँ धर्म को निश्चय और व्यवहार – ऐसे दो प्रकार से साधा है। धर्म के दो प्रकार : निश्चय और व्यवहार। **उसकी प्ररूपणा चार प्रकार से है–**... सर्वज्ञ के मार्ग में चार प्रकार के धर्म के नाम के कथन हैं। चार प्रकार से कथन हैं। **प्रथम वस्तुस्वभाव,...** चार प्रकार में पहला वस्तुस्वभाव धर्म। भगवान आत्मा... जो वस्तु, उसका स्वभाव, वह धर्म। आत्मा का स्वभाव वस्तु है, उसका स्वभाव, ज्ञान, दर्शन और आनन्द। उस ज्ञान, दर्शन और आनन्द का प्रगट होना, वह धर्म है। समझ में आया?

प्रथम वस्तुस्वभाव,.. धर्म। एक। यह स्वभाव तो भगवान ने देखा, जाना-वैसा कहा वहाँ हो। अज्ञानी में कभी हो नहीं सकता। **उत्तम क्षमादिक दस प्रकार,..** धर्म। दूसरा। धर्म की व्याख्या दूसरी। उत्तम—सम्यग्दर्शनसहित सहनशीलता, क्षमा आदि की वीतरागता वह दस प्रकार का धर्म। वह दूसरे धर्म की व्याख्या है। **सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप..** तीसरी व्याख्या। धर्म की तीसरी व्याख्या। देखो! यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह तीन भी धर्म। आत्मा आनन्द और ज्ञान की मूर्ति चैतन्य प्रभु में अन्तर्मुख होकर दर्शन-प्रतीति होना और अन्तर्मुख का ज्ञान होना और उसमें रमणता, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन को धर्म कहने में आता है। तीनों को धर्म कहने में आता है। तीनों को धर्म कहते हैं। वैसे तो चारित्तं खलु धम्मो; और धर्म का मूल सम्यग्दर्शन। यहाँ तो तीनों धर्म हैं। सम्यग्दर्शन स्वभाव धर्म है न? सम्यग्ज्ञान उसका धर्म है और सम्यक्चारित्र वीतरागी पर्याय भी धर्म है। तीनों धर्म है। वस्तु का स्वभाव है, ऐसी दशा प्रगट हुई है। कहो, समझ में आया?

और चौथे जीवों की रक्षारूप ऐसे चार प्रकार हैं। लो! जीव की रक्षारूप अर्थात् इसमें जीव स्वयं आया न?

मुमुक्षु : .....अपनी रक्षा.....

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं। दूसरी किसकी रक्षा? ऐई! अपने जीव की राग से रक्षा करना, वह धर्म है। राग उत्पन्न होने नहीं देना।

मुमुक्षु : दूसरे जीव की रक्षा.....

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरे जीव का विकल्प, वह व्यवहार। निश्चय यह। स्वयं जीव में है या नहीं जीव? उसकी रक्षा अर्थात् क्या? जिसका स्वरूप ज्ञान-आनन्द आदि है, उसकी रक्षा। राग की रक्षा नहीं, व्यवहार की रक्षा नहीं। दया, दान, व्रत आदि विकल्प, वह तो हिंसा है। आहा..हा..!

मुमुक्षु : जीव को रागस्वरूप माने, वह रक्षा नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : रागस्वरूप, आत्मा को रागस्वरूप माने तो मिथ्यात्व होता है।

मुमुक्षु : रक्षा नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : पाप की रक्षा होती है।

अपना आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप है, वैसी उसकी उत्पत्ति होना और दूसरे का आत्मा भी ज्ञानमय है, ऐसी ज्ञानमय उत्पत्ति होना, उसका नाम जीव की रक्षा और धर्म है। आहा..हा..!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : एक तो धर्म का प्रकार यह कि वस्तु का स्वभाव है, वह धर्म। उसी-उसी को दस प्रकार सम्यग्दर्शनसहित क्षमा, वह भी एक धर्म; तीसरा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र वीतरागी पर्याय स्वभाव में ध्रुव के आश्रय से प्रगट होना। ध्रुव चैतन्यबिम्ब भगवान, नित्य सिद्धरूप वस्तु त्रिकाल शाश्वत्। उसके आश्रय से होनेवाला सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह धर्म; और उसके आश्रय से होनेवाली रागरहित की अहिंसा स्वभाव की उत्पत्ति, उसका नाम धर्म। कहो, समझ में आया?

ऐसे चार प्रकार हैं। वहाँ निश्चय से सिद्ध किया जाय, तब तो सबमें एक ही प्रकार है,.. देखो! चारों में एक ही प्रकार है। शुद्धता। आहा..हा..! निश्चय से चार वस्तु को सिद्ध करके **सबमें एक ही प्रकार है, इसलिए वस्तुस्वभाव का तात्पर्य तो जीव नामक वस्तु की परमार्थरूप दर्शन-ज्ञान-परिणाममयी चेतना है..** देखो! जीव

नामक पदार्थ ऐसा भगवान आत्मा, उसका परमार्थरूप दर्शन-ज्ञान ऐसे परिणाम, श्रद्धा-ज्ञान के ऐसे परिणाम, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम, वह पहला वस्तु का स्वभाव, वह धर्म है। राग और पुण्य आदि कहीं वस्तु का स्वभाव नहीं है। कहो, समझ में आया?

निश्चय से सिद्ध किया जाय, तब तो सबमें एक ही प्रकार है, इसलिए वस्तुस्वभाव का तात्पर्य तो जीव नामक वस्तु की परमार्थरूप दर्शन-ज्ञान-परिणाममयी चेतना है.. भगवान आत्मा दर्शन-ज्ञान का पिण्ड है। उसमें एकाग्रता (होना), ऐसी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की चेतना, वह परिणाम, वह धर्म। ज्ञान-चेतना वह धर्म है। समझ में आया? वस्तु का स्वभाव परमार्थ, ऐसा कहा न? देखो! **दर्शन-ज्ञान-परिणाममयी चेतना है..** वह वस्तु का स्वभाव है। जानना-देखना ऐसा जो आत्मा का स्वभाव, उसे परिणाम में प्रगट करना। देखने-जानने के परिणाम, श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति, वह चेतना के परिणाम, वह धर्म है। रागादि, वह चेतना का परिणाम, वह चेतना की क्रिया आयी, सबेरे आया था। चेतना की क्रिया। राग की या दया-दान, पर की दया-दान की क्रिया वह तो जीव की क्रिया ही नहीं।

मुमुक्षु : व्यापक का व्याप्य नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। आहा..हा..! समझ में आया? इस श्रुत पंचमी से अष्टपाहुड़ शुरु होता है। सब छनावट होती है। किसी की लिहाज रखी जाये या किसी की शर्म से दूसरा हो, वह यह वस्तु नहीं है कि दुनिया के डर से अधिक लोग मानें और थोड़ा मानें और न मानें, इसलिए सत् की संख्या न हो, इसलिए सत् दूसरा हो जाये, ऐसा है नहीं। आहा..हा..! लोगों को बाहर की प्रवृत्ति के परिणाम पर पूरे धर्म का माप है। यहाँ तो कहते हैं कि वस्तु का स्वभाव परमार्थरूप चेतना, ऐसा ज्ञान में चेताना-श्रद्धा-ज्ञान के परिणाम से—ऐसा चेतना परिणाम, वह धर्म है। वह मोक्ष का मार्ग है।

मुमुक्षु : ज्ञान चेतना से....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। ज्ञानस्वरूप आत्मा है। उसमें चेतना अर्थात् एकाग्र होना। वह ज्ञान की चेतना। उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों उसमें आ गये। यहाँ तो अभी पहली व्याख्या करते हैं। वस्तुस्वभाव धर्म की व्याख्या। फिर दूसरी करेंगे। उसमें भी चेतना के परिणाम ही हैं। ऐसा सिद्ध करेंगे। आहा..हा..! समझ में आया?

वस्तुस्वभाव, उसे तो जीव भगवान आत्मा, वह वस्तु का परमार्थ दर्शन-ज्ञान, देखने-जानने का जिसका स्वभाव, उसमें एकाग्र होने पर जो चेतना दर्शन-ज्ञान-परिणति हो, वह वस्तु का स्वभाव और उसे धर्म कहने में आता है। शरीर की क्रिया नहीं; दया, दान के विकल्प, वह धर्म नहीं। समझ में आया?

मुमुक्षु : सहकारी.....

पूज्य गुरुदेवश्री : सहकारी का अर्थ होवे वह हो। सहकारी कारण यहाँ कहाँ है? उसके घर में रहा। एक-दूसरे में तो अभाव है। सहकारी कारण का तो अभाव है।

मुमुक्षु : साथ में होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : होवे तो सब पूरी दुनिया होती है। लोकालोक है, यहाँ आ जाता है? लोकालोक है। केवलज्ञान में ज्ञात हो, वह लोकालोक ज्ञान में आ गया? रागादि सब हैं। हो, वह कहीं आत्मा का धर्म तो चेतना अन्दर परिणमना चैतन्य शुद्ध से, वह धर्म है। शान्तिभाई! आहा..हा..!

मुमुक्षु : ऐसा जैन का स्वभाव है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा जैन का, वस्तु का स्वभाव ऐसा है, ऐसा कहते हैं। जैन का नाम ही कहाँ लिया? वस्तु जीव है, उसका परमार्थस्वभाव ही जानना-देखना ऐसे चेतनारूप परिणमना, वह धर्म है। ऐसा ही वह परमार्थ है। भगवान ने कहा, जाना और कहा है। वह वस्तु ही ऐसी है। जानन-देखन आनन्द प्रभु! उसकी अन्तर्दृष्टि करके जानन, देखन और आनन्द के, चेतना के परिणाम प्रगट हों, उसे यहाँ वस्तु का स्वभाव धर्म कहने में आता है। कहो, समझ में आया?

और वह चेतना सर्व विकारों से रहित.. वह चेतना सर्व विकारों से रहित.. देखो! **शुद्ध-स्वभावरूप परिणमित हो, वही जीव का धर्म है..** लो! राग और विकल्प से रहित शुद्ध चेतना हो, वह जीव का स्वभाव और धर्म है। अस्ति-नास्ति कहा। लो! **दर्शन-ज्ञान-परिणाममयी चेतना है और वह चेतना सर्व विकारों से रहित..** दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, नामस्मरण विकल्प है, वह तो विकार है। आहा..हा..! **सर्व विकारों से रहित शुद्ध-स्वभावरूप परिणमित..** भगवान पवित्र शुद्ध है, त्रिकाल शुद्ध

है। उसका परिणमन शुद्ध होना, वह धर्म है। दूसरी शैली आती है न यहाँ तो! समयसार की शैली और... बात तो वह है परन्तु दूसरे ढंग से बात है। आहा..हा..! ऐई! सुजानमलजी!

मुमुक्षु : कड़क है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कड़क। कड़क नहीं। जैसा है, वैसा है। कड़क तो अतिरेक कहलाता है। ऐसा स्वभाव.. आहा..हा..!

मुमुक्षु : मार्ग बिगड़ गया, इसलिए कड़क बात...।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसलिए लगता है। लोगों को... इस प्रकार से माना है न कि यह मानो भगवान की भक्ति करते हैं और यात्रा करते हैं, पूजा करते हैं, यह सामायिक, प्रोषध, प्रतिक्रमण करते हैं, इसलिए धर्म। यह इनके माने हुए हैं। ये तो विकल्प हैं, भाई! यह तो शुभराग है। उस राग से, विकार से रहित शुद्ध चेतना का परिणमना, वह धर्म है। आहा..हा..! समझ में आया? वीतराग धर्म की यह व्याख्या। भाई! .... इसे रुचेगी नहीं ऐसा। इसने दूसरा रचा है न! फिर बारम्बार जब हो, तब ऐसा लगता है कि भाई! मार्ग तो यह है। ऐई! भाई! देखो! यह ऐसा है। स्त्रियों की बातें! धीरे-धीरे बैठेगी। नहीं रुचे तो यहाँ से चले जायेंगे। रुचेगी तो फिर वहाँ और थोड़ा-थोड़ा रुच गया। यह मार्ग तो कोई दूसरा लगता है। आहा..हा..!

इस देह को भूल जाओ, कहते हैं। यह तो मिट्टी जड़ है। विकल्प उठे, उसे भूल जाओ क्योंकि वह तो विकार है। भूलरहित स्वभाव जो त्रिकाल आनन्द और ज्ञानमूर्ति है, उसका उसरूप से परिणमन होना, विकाररहित स्वभाव शुद्धतासहित। शुद्धतासहित और विकाररहित, ऐसा कहा।

मुमुक्षु : महाराज! भूल जाओ ऐसा आप कहते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान को अन्दर याद करो। अन्दर परमात्मा आनन्दस्वरूप है, उसे स्मरण करो, इसे भूल जाओ, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : यह तो बात-बात में..... क्रिया कुछ नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह क्रिया नहीं आयी? भगवान आनन्दमूर्ति को याद करो।

जिसका विस्मरण चलता है, उसका स्मरण करो; और जिसका स्मरण चलता है, उसका विस्मरण करो। पण्डितजी ! आहा..हा.. !

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : मांगलिक में बहुत जगह कहा है। सबेरे मांगलिक आता है न ?

अनादि भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्द आनन्द है, उसका इसे विस्मरण है; और राग-द्वेष तथा मिथ्या अभिप्राय की इसे यादगिरी और स्मरण है। यह विस्मरण है भगवान आत्मा का, उसे स्मरण में लाना। स्मरण कब हो ? उसे पकड़कर, अवाय करके-निर्णय करके और धारणा की हो तो स्मरण होता है। ज्ञानानन्दस्वरूप चिदानन्द प्रभु, चैतन्य के स्वभाव से अकेला भरा हुआ, उसका अवग्रह करके, निर्णय करके अन्दर धारण किया हो कि ऐसा स्वरूप है। उसका स्मरण करना और अनादि का विकार का स्मरण है, उसे विस्मरण करना। कहो, समझ में आया ?

देखो ! **जीव नामक वस्तु की परमार्थरूप दर्शन-ज्ञान-परिणाममयी चेतना है..** वह शुद्ध कहा। उस शुद्ध का परिणमन है। राग है, वह तो विकार है। वह शुद्ध का परिणमन नहीं। आहा..हा.. ! पंच महाव्रत के परिणाम, पर की दया का भाव, वह सब विकार है। उस विकाररहित शुद्ध चैतन्य का परिणमन, विकाररहित (परिणमन हो), उसे शुद्ध चेतना धर्म, वस्तु का स्वभाव कहते हैं। आहा..हा.. ! बहुत कठिन काम। लोगों में इतना सब बाहर का ऐसा हो.. हो.. हो हा... हो हा... (हो गयी है कि) यह बात बैठना कठिन पड़ती है। यह तो एकान्त है, परन्तु कोई साधन-फाधन है ? विकार साधन और निर्विकार साध्य ? ऐसा नहीं हो सकता। यहाँ तो विकाररहित ही कहना है, वहाँ फिर विकार साधन कहाँ से आया ? ऐसा कहते हैं।

वस्तु चैतन्य का स्वभाव भगवान, त्रिकाल, सर्व काल में शाश्वत् शुद्ध। अपने तीन बोल आये थे न ? अन्तः, चिर, विशद्, लसत्... चार बोल थे। अन्तः, यहाँ झुकना है न ? ऐसा कहते हैं। यहाँ ऐसे झुकना है न ? ऐसे झुकना है तो वह झुका हुआ असंख्य प्रदेशी अन्दर एकरूप है। और फिर... समझ में आया ? चिर सर्वकाले - ऐसा ही है वह। शाश्वत्। सर्व काल में ज्ञान-आनन्दमय वस्तु, ऐसी की ऐसी है। फिर विशद—सर्व काल

शुद्ध है। भाव। यह भाव आया। सर्व काल शुद्ध है। लसत्। सर्व काल पृथक् है। गजब अर्थ निकाला है!

मुमुक्षु : सर्व काल और लसत्।

पूज्य गुरुदेवश्री : चारों में सर्व है। समझ में आया? यह उसका स्वभाव ही ऐसा है, कहते हैं। तीनों काल अन्तः असंख्य प्रदेश का एकरूप, उसमें ऐसी की ऐसी स्थिति रहे, ऐसी वस्तु शाश्वत् है। काल रह गया अन्दर त्रिकाली। और उसका शुद्धत्वभाव, वह उसका भाव है, और उसका प्रत्यक्ष होना, वह प्रत्यक्ष त्रिकाल, प्रत्यक्ष हो, ऐसा उसका प्रत्यक्ष गुण है, ऐसा उसका स्वभाव है। उस स्वभाव का उस प्रकार से चैतन्य का शुद्धरूप से परिणमन होना, द्रव्य के आश्रय से शुद्ध का परिणमन होना, पर के आश्रय से विकाररहित परिणमन होना, उसे चेतनारूप धर्म कहने में आता है। देवीचन्दजी! इसमें कोई शंका को स्थान ही नहीं है। क्यों होगा और कैसे होगा? (ऐसा नहीं है)। आहा..हा..!

मुमुक्षु : साधन नहीं होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : साधन-फाधन। यह स्वयं साधन है। यह तो सबेरे बात चलती है। आहा..हा..! कर्ता से, साधन-करण भिन्न नहीं हो सकता। यह तो सबेरे आता है। अभी आयेगा उसमें। आहा..हा..! करनेवाला भगवान आत्मा, उसके स्वभाव का साधन भी स्वयं ही है। उसे पर की तो अपेक्षा है ही कहाँ? स्वतन्त्ररूप से करे, उसका साधन, स्वतन्त्ररूप से साधे, वह साधु। पर की अपेक्षा रहे, उसमें स्वतन्त्र कहाँ रहा? आहा..हा..!

मुमुक्षु : साधे कौन?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अनेकान्त है। स्व साधन से होता है और पर साधन से नहीं होता। कहीं कहा हो तो वह व्यवहार से कथन है। इसलिए पर से नहीं होता, ऐसा अनेकान्त है। लो, अभी एक बात ली। दूसरी लेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)